Year-8; Sept. 2017
ISSN–2231-1130
UGC Sr. No. – 48398
●●●●VEETHIKA●●●

21वीं सदी की आदिवासी कविता में विद्रोही स्वर

डॉ0 नितिन कुमार *

''सभ्यता न वेशभूशा है, न पोशाक। संस्कृति पाउडर, टीका, सरकारी चाकरी, वेतननहीं है। दोपहर के भोजन में गुड़ और दलिया तथा उबली दाल के लिए कतार बांधस्कूल आना शिक्षा नहीं। खाद, बीज, भैसा, मुर्गी पालना प्रगति नहीं है। आदमीसभ्यता बनाता है या सभ्यता आदमी को बनाती है?''[1]

20वीं सदी के अंतिम दौर से लेकर 21वीं सदी के आरम्भ तक साहित्य में अनेक विमर्शों का स्थापत्य दिखायी पड़ता है। जैसे– स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श इनमें मुख्य हैं। आदिवासी विमर्श का साहित्य कई सदियों पुराना है। परन्तु 21वीं सदी का आरम्भ साहित्य में एक नयी परम्परा और परिवर्तन को लेकर आया। यह परिवर्तन साहित्य में कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता के माध्यम से दिखायी दिया, जिससे आदिवासी साहित्य का, समाज की एक नयी संरचना व रूपरेखा से रूबरू होना लाजमी था। आदिवासी समाज में परिवर्तन की यह बयार साहित्य में ही नहीं आदिवासी जीवन की मनोदषा में भी चित्रित दिखायी पड़ती है। किसी भी उपेक्षित समाज का चित्रण जितना अच्छा कविता के माध्यम से होता है उतना किसी अन्य माध्यम से नहीं। 21वीं सदी की आदिवासी कविताओं में इसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है, इनमें उनके जीवन–संघर्ष, शिक्षा–व्यवस्था, पीड़ा, यातना, संत्रास व उनकी बदहाली की स्थिति को बखूबी ढंग से व्यक्त किया गया है। ''इस चेतना के साथ ही अपने लोक–साहित्य की समृद्ध परम्परा को स्रोत बनाते हुए आदिवासियों ने समकालीन साहित्य की शुरूआत की। पाँच हजार वर्षों का विषद इतिहास है उनके पास, लोकगीतों, लोककथाओं, लिजिंद्रियों, वीर–गाथाओं, पर्वों–त्यौहारों के गीतों और अनुष्ठानों की महान परम्परा है, जिसमें उनका ही नहीं बल्कि पृथ्वी का इतिहास भी छिपा है। वे अब खोज रहे हैं अपना इतिहास उनके मंत्रों में। यदि ज्ञान का स्रोत व्याख्यायित हो रहा है, तो उनकी कथाओं में सृष्टि की सृजन गाथाएं भरी हैं। प्रेम की अनगिनत कहानियाँ, प्रकृति के असीम विकास की कथा कहते हैं उनके गीत।''[2]

आदिवासी विमर्श एक ऐसा विषय है जिसमें उनके रहन–सहन, उनकी संस्कृति, परम्परा, अस्मिता, साहित्य और अधिकारों के बारे में विस्तृत चर्चा की जाती है। आदिवासी समाज को वर्ण–व्यवस्था, जातिगत भेदभावों, विदेशी आक्रमणों, अंग्रेजों और मुख्य धारा के सभ्य समाज द्वारा जंगलों में खदेड़ा जा रहा है। अज्ञानता व पिछड़ेपन तथा रहन–सहन के कारण उन्हें सताया जा रहा है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में निवास कर रहे आदिवासियों ने अपने–अपने भू भाग में हकों, अधिकारों और अस्ति की लड़ाई के लिए अनेक विद्रोह किये, जिनमें उन्हें सामूहिक रूप से असफल ही होना पड़ा और उनका विद्रोह वृहद स्तर पर फैलता ही चला गया। झारखण्ड, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र में पहचान का आन्दोलन भी शुरू हुआ था जिनमें संथाल, हूल विद्रोह, उलगुलान, बस्तर की लड़ाई तथा पूर्वोत्तर के पहचान का आन्दोलन है। ''अदिवासी लेखक अपने समकालीन जीवन के सत्य पर, इन सब समस्याओं पर, प्रश्न कर रहा है– उत्तर पूछ रहा है– समाधान सुझा रहा है। इसलिए आदिवासी लेखन जीवन का लेखन है, कल्पना और मनोरंजन का किस्सा नहीं। उनकी कलम बिरसा के उलगुलान पर, झारखंड के जंगलों में अंग्रेजों के खिलाफ हुए संथाल केल विद्रोह पर, सिद्धों–कानू को दी गयी फाँसी पर सतत चल रही है।''[3]

आदिवासी साहित्य की विधाओं में कविता महत्वपूर्ण विधा है। कविता की महत्ता इसलिए है कि ज्यादातर आदिवासी साहित्य, गीत या कविता के माध्यम से हमारे सामने आया है। आदिवासी कवियों में निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन, बाहरू सोनवणे, रमणिका गुप्ता, हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, सरिता बड़ाइक, केशव मेक्काय, डॉ0 रामधाल मुण्डा, दीनानाथ मनोहर आदि का नाम विषेष रूप

* पुरबावां, हरदोई

से लिया जाता है। इन कवियों की कविताओं में भोगे हुए सत्य तथा साथ ही अपने समाज की सामाजिक वैयक्तिक जीवन संघर्ष की समस्या को व्यक्त किया गया है। आदिवासी कविताओं में विभिन्न सामाजिक विद्रोह, नारी का जीवन संघर्ष, विस्थापन, आस्तित्व की समस्या और शिक्षा जैसी समस्याएँ प्रमुख रूप से देखी जाती हैं, जिसके लिए आदिवासी या जंगली जीवन यापन करने वाली जनजातियों को समय–समय पर आन्दोलन व विद्रोह करना पड़ा है। 'निर्मला पुतुल' ने 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' में कहा है–

''पर याद रखो
तुम्हारी मानसिकता की पेचीदा गलियों से
गुजरती
मैं तलाश रही हूँ तुम्हारी कमजोर नसें,
ताकि ठीक समय पर
ठीक समय से कर सकूँ हमला
और बता सकूँ सरेआम गिरेबान पकड़
कि मैं वो नहीं हूँ जो तुम समझते हो।।''[4]

21वीं सदी में आदिवासियों के अस्तित्व को लेकर तमाम वैचारिक विमर्श सामने आये हैं। नई सदी का आदिवासी समाज वैश्वीकरण के परिदृश्य में घूमता दिखायी पड़ता है। भूमण्डलीकरण व बाजारवाद ने इस समाज को नयी दिशा प्रदान की है। वैश्विक सभ्यता में अपने आस्तित्व की रक्षा हेतु आदिवासी जन समुदायों में एक ऐसा विमर्श सामने आया, जिसमें जल, जंगल और जमीन ही उनका मुख्य उपजीव्य बनता है। यही कारण है कि उनकी वाचिक परम्परा में प्राप्त 'सबआल्टर्न साहित्य' में प्रतिरोध का स्वर मुखारित हुआ है। आदिवासी समाज में सबसे बड़ी समस्या उनके विकास को लेकर है, अपने अस्तित्व को समाज में एक अलग पहचान दिलाना ही उनके आन्दोलन करने का मुख्य उद्‌देश्य है। अदिवासी साहित्य में क्रांतिकारी गतिविधियाँ ही उनको एक नया जन्म देने में सहायक बनती हैं। 'तुम्हारे अहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा हमें' नामक कविता में निर्मला पुतुल लिखती हैं–

''अगर हमारे विकास का मतलब
हमारी बस्तियों को उजाड़कर
कल–कारखाने बनाना है।
तालाबों को थोपकर राजमार्ग
जंगलों को सफाया कर आफीसर्स
कालोनियाँ बनानी हैं।
और पुनर्वास के नाम पर हमें
हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिए
पर धकेलना है।
तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा
में
शामिल होने के लिए
सौ बार सोचना पड़ेगा हमें।।''[5]

निर्मला पुतुल ने तथाकथित विकास की अवधारणा में उजाड़े जा रहे आदिवासियों के समर्थन में इस कविता में एक ऐसी भावना को उजागर किया तब संशय के सम्पूर्ण अन्तर्विरोध स्वतः समाप्त हो जाते हैं। 'शषिभूषण मिश्रा' की कविता 'हमें असभ्य रहने दो' में भी यह अन्तर्विरोध स्पष्ट रूप में उभर कर सामने आता है।

''हमें मत भगाओ यहाँ से
बाबा आदम के जमाने से
जब शायद तुम भी नहीं आये थे
तब से इसी मिट्‌टी इसी जंगल में
जीती आयी हैं हमारी कई–कई पुश्तें।
मत विस्थापित करो हमें
हमारे पुरूखों का श्रम जल का सोता
फूटेगा जरूर एक दिन
और सब कुछ कर देगा हरा–भरा
खुद करने दो तैयार हमें
हमारे आगामी इतिहास का नक्शा।।''[6]

आदिवासी समाज में जीवन जीने वाले हाशिए के लोग उत्पीड़न, शोषण, दुचक्र, दमन और दासता के विरूद्ध प्रतिरोध की आवाज बनकर मुक्ति का सपना संजोए हुए हैं, जिससे वे अपने खोए हुए आत्मविश्वास एवं अस्मिता को हासिल करने के लिए नये सिरे से संघर्ष करने को कटिबद्ध हो जायें। आदिवासी कवि 'जवाहर लाल बांकिरा' अपनी

कविता 'बिसना और बेड़ियाँ' में कुछ इसी तरह का भाव व्यक्त करते हैं–

"आजादी के साठ साल बीतने के बाद भी
बिरसा को जकड़ी हैं बेड़ियाँ
कहती हैं आदिवासियों को दर्द भरी
कहानियाँ
कहाँ खो गयी पुरखों की धरती की खूबियाँ
वो घने जंगल और बन बालाओं की
अठखेलियाँ
साल के घने पेड़ और छोटी–छोटी
नीली–नीली पहाड़ियाँ
सारंडा और टेबो की घाटियों की शान्त
वीरानियाँ
रत्नगर्भा धरती का निवासी
समझ न पाया तू सियासी
तू भोला का भोला रह गया
स्वयं विष पीकर औरों को अमृत दिया।।"[7]

21वीं सदी में आदिवासी साहित्य, आदिवासियों के जीवन, समाज और संस्कृति को हाशिए से मुख्यधारा की ओर लाने में प्रयासरत है, साथ ही आज उनकी अभिव्यक्ति में सदियों से दबी पड़ी आवाज मुखर होकर अपनी शोषण और त्रासदी की कहानी स्वयं कह रही है। आदिवासियों की विद्रोही स्वर को 'रमणिका गुप्ता' कविता के माध्यम से अभिव्यक्ति देते हुए कहती हैं–

"वे बोलते नहीं थे/भूख की रोटी/मार को रोटी/कहना/वे जानते नहीं थे/इसलिए वे ले जाए जाते रहे/जरूरी सामान की तरह ट्रकों में लादकर/ट्रेनों में चढ़कर माल की तरह/कर्नाटक पंजाब और हरियाणा/पर अब वे बोलने लगे हैं/वे माँग रहे है हिसाब/................../ भूख को रोटी मार को लाठी/कहना सीख गए हैं।"[8]

आदिवासी कवि जिस समाज में पढ़ लिखकर बड़े हुए, अपना जीवन जिया उसी समाज में व्याप्त दुरावस्था से पीड़ित एवं बेचैन हैं। आदिवासियों का प्राकृतिक जीवन से बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है और उनका यह सम्बन्ध प्राचीन काल से रहा है। उन्होनें प्राकृतिक सहचर में रहकर ही अपना जीवन यापन किया है। आज उसी प्रकृति से उन्हें बेदखल किया जा रहा है। आदिवासी कवयित्री विद्रोही स्वर व्यक्त करते हुए कहती हैं–

"इसलिए फिर कहती हूँ न छोड़ो प्रकृति को
अन्यथा यही प्रकृति एक दिन माँगेगी
हमसे तुमसे अपनी तरुणाई का हिसाब
एक–एक क्षण और करेगी भयंकर बगावत
और तब न तुम होगे और न हम होंगे।"[9]

नयी सदी के दौर में कई सामाजिक परिवर्तन हुए और इन परिवर्तनों से समाज का प्रत्येक वर्ग प्रभावित हुआ, चाहे वह उच्चपदस्थों का समाज हो या आदिवासी समाज सभी को 21वीं सदी की नयी संचेतनाओं एवं ऊर्जाओं ने प्रभावित किया। आदिवासियों को युगों–युगों से कोई न्याय नहीं मिला है, उनका स्वर हमेशा सरकारी तंत्र तथा राजनैतिक षडयंत्रों द्वारा दबाया जाता रहा है। आदिवासियों को विकास के नाम पर झूठे प्रलोभन देकर सरकार, दलाल और रईस लोग इनको खत्म करना चाहते हैं। आदिवासियों को अन्याय, अत्याचारों के विरूद्ध स्वयं लड़ाई लड़नी होगी तथा समाज से स्वयं संघर्ष करके नयी दिशा देनी होगी। 'महादेव टोप्पो' अपने समाज को संगठित, शिक्षित होने का आह्मन करते हुए 'सबसे बड़ा खतरा' कविता में कहते हैं–

" यह है सबसे बड़ा खतरा कि हम अपनी
पहचान
खो रहें हैं खो रहें कि हम अपने स्वाभाविक
स्वर न मिमिया रहे हैं न गरज रहे हैं इसी
कारण ऊँची अट्टालिकाओं में पंखों के नीचे
हमारी असमर्थता पर मुस्कुरा रहे हैं
इसलिए मित्र आओ हम पहले अपने कंठो
में गरजती हुयी आवाज भरें।"[10]

आदिवासी समाज जितना पुराना है उनका साहित्यिक सृजन भी उतना ही उत्कृष्ट व प्राचीन है। समाज और साहित्य एक दूसरे से इस प्रकार बंधे हुए हैं कि बिना सामाजिक संरचना के साहित्यिक सृजन ही सम्भव नहीं है। सामाजिक ढाँचे में बदलाव के साथ ही साथ साहित्य के

स्वरूप में भी परिवर्तन होता है। 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक संरचना में कई मूलभूत परिवर्तन दिखायी दिये, कई प्रकार के सामाजों का जन्म हुआ जो अपनी–अपनी स्वतंत्रता के लिए अस्तित्व व अस्मिता की लड़ाई के लिए संघर्षरत हैं। इसके साथ ही साथ पुराने मूल्यों में बदलाव आया तथा नये मूल्यों का समागम हुआ।

भारत देश में खनिज पदाथों का भण्डार जिस जमीन के नीचे है ज्यादातर वहाँ आदिवासियों का जीवन व्यतीत होता है। कोयला, यूरेनियम आदि खनिज पदार्थ के उत्खनन को लेकर सरकारी क्षेत्र से आदिवासी समाज हमेषा से भिड़ता चला आ रहा है। आदिवासियों के पास प्रमाण नहीं है कि वह जमीन का दावा कर सकें कि वह जमीन का असली मालिक व हकदार है। वह सम्पत्ति या मिल्कियत की परिभाषा से ही अंजान है। गाँव और उसकी सारी जमीन पूरे गाँव वालों की होती थी। 'हरिराम मीणा' उनकी खत्म होती नस्लों पर चिन्तित हैं, जमीनों से उनकी बेदखली पर वे कह उठते हैं–

''कैसे करोगे साबित,
सभ्यता की इस अदालत में
कि यह भौम(जमीन) तुम्हारी थी।''[11]

आदिवासी जब तक बोलता नहीं था। तब तक अपनी आत्म सम्मान की रक्षा के लिए तीर चलाकर विरोध करता था। कालान्तर में वह तीर और बंदूक की शक्ति का प्रयोग कम करके कलम की मारक शक्ति से परिचित हो गया है और अपनी लेखन शक्ति को तीर बनने की राह ताक रहा है। 'ग्रेस कूजर' कलम की ताकत को बंदूक की ताकत से भी बड़ा मानती है–

''क्या कर लेगीं उनका बंदूक और गोलियाँ
लांघते ही देहरी हजारों कहानियाँ
नस–नस हो गयी कमान सब लहू तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो।''[12]

आदिवासी समाज विस्थापन और सभ्यता से दूर रखे जाने के षड्यंत्र को पहले से ही आँक रहा है और विस्थापित समाज को परवर्ती समय में आने वाली समस्याओं से आगाह करता है। 'हरिराम मीणा' अपनी कविता में अपनी जमातों को बेदखल होते देख उनकी बेबसी पर बौखला उठते है और सवाल करते है। कवि उनकी खत्म होती नस्लों पर चिंतित है। जमीनों से उनकी बेदखली पर कह उठता है–

''देखो तुम देख रहे हो
कि वे आ रहे हैं
तुम्हारी नसें तन रहीं हैं
तुम्हारी भुजाएँ फड़क रहीं हैं
तुम्हारे तीर–कमान तने हैं
तुम एक जुट हो
मगर तुम कुछ नहीं कर रहे
तुम आक्रमण कर सकते हो
मगर तुम डर रहे हो
आखिर क्यों क्यों ?''[13]

आदिवासी साहित्य, आदिवासी लोगों के सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक स्थितियों एवं उनके रहन सहन के ढंग पर आधारित होता है। आदिवासियों का जीवन यापन सामूहिक होता है। वह व्यक्तिवादी जीवन जीने में विश्वास नहीं रखता या नहीं जीता है, जबकि आदिवासयिों के अतिरिक्त अन्य संस्कृतियाँ व्यक्तिवादी हैं। अन्य संस्कृतियों में जीवन यापन करने वाले लोग अधिकार की बात करते हैं। सब कुछ ले लेना चाहते हैं, परन्तु आदिवासी लोग सहयोगपूर्वक जीना चाहते हैं। आदिवासी साहित्य इसलिए हमारे वाड्. मय से बड़ा और विशाल है, साथ ही साथ साहित्य मूल्यों को आत्मसात करके असीम भी। यदि हम सब उनके जीवन मूल्यों से युक्त मूल्यपरक जीवन शैली से रूबरू होंगे तो हम भी दूसरों के लिए, दूसरों के साथ जीवन कैसे जियें, ये सीख सकेंगें।

सन्दर्भ–

1. आदिवासी साहित्य विमर्श, सम्पादक गंगा सहाय मीणा, समकालीन हिन्दू समाज और दिकू समाज का आदिवासी चिन्तन, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा0 लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ0 67
2. आदिवासी साहित्य विमर्श, सम्पादक गंगा सहाय मीणा, आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स

प्रा0 लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ0 37

3. वही, पृ0 38
4. नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल (रूपान्तर, अशोक सिंह), भारतीय ज्ञानपीठ,18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली, पृ0 56
5. कथाक्रम,षैलेन्द्र सागर, तुम्हारे अहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा हमें, निर्मला पुतुल, त्रैमासिक पत्रिका, अक्टूबर–दिसम्बर 2011, पृ0 184–185
6. कथाक्रम, शैलेन्द्र सागर, हमें असभ्य रहने दो, शषि भूषण मिश्रा, कथाक्रम, त्रैमासिक पत्रिका, अक्टूबर –दिसम्बर 2011 पृ0 194
7. कथाक्रम, शैलेन्द्र सागर, बिरसा की बेड़ियाँ, जवाहर लाल बांकिरा, कथाक्रम, त्रैमासिक पत्रिका अक्टूबर–दिसम्बर 2011, पृ0 190
8. कथाक्रम, शैलेन्द्र सागर, आदिवासी विशेशांक, 2011, पृ0 23
9. आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2008, पृ0 24
10. वही, पृ0 50
11. आदिवासी साहित्य विमर्श, सम्पादक गंगा सहाय मीणा, आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, अनामिका पब्लिार्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा0 लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ0 42
12. वही, पृ0 39
13. वही, पृ0 42, 43